REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.2331(UIF)
VOLUME - 7 | ISSUE - 5 | FEBRUARY - 2018

गांधी चिंतन में मानवीय अवधारणा

डॉ. प्रज्ञा कुमारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर , इतिहास विभाग, गया कॉलेज, गया
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया।

प्रस्तावना :

महात्मा गांधी ने इस धर्म को पुनः हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई की एकता तथा समता स्थापित करने के लिए सर्वधर्म समभाव दर्शन की पीठिका प्रतिष्ठित की। वस्तुतः अर्थ विज्ञान की दृष्टि से धर्म शब्द का अर्थ संकोच हो गया है। साम्राज्यवादी शासन में शासकों ने भारतीय समाज को विविध धर्मों वाला समाज बताते हुए उनके मध्य परस्पर गंभीर टकराव को रेखांकित किया है। इसके पीछे एक ऐतिहासिक यथार्थ भी है। दो साम्राज्यवादी आक्रमण भारत पर 'रिलीजन' और 'मजहब' की आड़ लेकर किए गए। यद्यपि इन साम्राज्यवादी अभियानों के पीछे कोई धार्मिक–आध्यात्मिक प्रेरणा विद्यमान नहीं मिलती तथा व्यवहार में इसे धर्मो का टकराव भी बताया जाता रहा। इसलिए राष्ट्रीय राजनीति के समक्ष धर्मों के पीछे परस्पर सौहार्द्रपूर्ण एवं शांति तथा सद्भाव से भरे संबंधों की स्थापना का प्रयास एक बड़ी चुनौती के रूप में मौजूद थी। इस संदर्भ में ही गांधीजी ने सर्वधर्म समभाव का एक विचार प्रस्तुत किया।

1. सर्वप्रथम यह विचार स्पष्ट रूप से मई 1936 में सामने आया। वैज्ञानिक सी0वी0 रमन स्वीटजरलैंड के प्रसिद्ध जैव शास्त्री प्रो0 रैहमन के साथ गांधीजी से मई 1936 के पहले सप्ताह में मिले। प्रो0 रैहमने पहले सप्ताह में बताया कि मैं वैज्ञानिक होने के साथ ईसाई पदारी भी हूं। उन्होंने गांधीजी प्रश्न किया कि दुनिया में परस्पर विरोधी अनेक धर्म क्यों है ? क्या इन धर्मों के पीछे आपसी बैर विरोध को मिटाने का कोई रास्ता भी है या नहीं।

2. उत्तर में गांधीजी ने कहा कि वह तो ईसाइयों पर निर्भर करता है। बैर विरोध को मिटाने का रास्ता है अगर ईसाई दूसरे धर्म वालों से मेल–मिलाप करने का निश्चय कर लें परंतु वे करेंगे नहीं। क्योंकि ईसाइयों के अनुसार धर्मो के पीछे दिख रहे आपसी विरोध का हल यह है कि सारा संसार ईसाई हो जाए। मुझे एक ईसाई मित्र 30 वर्षों से यह समझाने के लिए ही मेरे पीछे पड़े हुए हैं कि मुझे ईसाई धर्म स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि हिंदू धर्म में तो अधः पतन के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। जब मैं जेल में था तब मुझे अलग–अलग जगहों से अनेक ईसाई पंथ का प्रचार करने वाली किताबें भेजी गई ताकि मैं पढ़कर ईसा मसीह को ईश्वर का इकलौता बेटा और संपूर्ण संसार का तारनाहार स्वीकार कर लूं। मैंने उन सभी पुस्तकों को बड़ी भक्ति भावना के साथ पढ़ा, परंतु मैं यह मानने को भी तैयार नहीं हुआ कि जीसस ही ईश्वर के इकलौते बेटे हैं। कुछ दिन हुए बम्बई में सर्वधर्म सभा हुई थी। मैं पूछता हूं कि उस सभा में क्या ईसाई धर्म अन्य धर्मो के साथ समता का भाव लेकर उपस्थित हुआ था। खुल्लमखुल्ला न सही चुपके वे अनेक देवी–दवताओं की आलोचना और निंदा करते रहते हैं, पर वे भूल जाते हैं कि स्वयं ईसाइयों के अनेक देवी–देवता हैं।

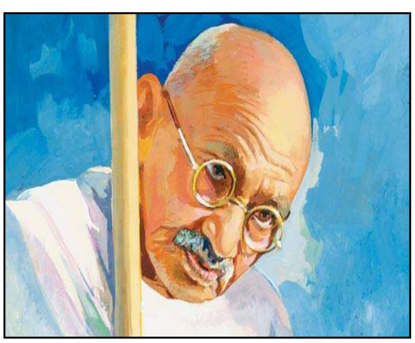

3. सर्वधर्म समभाव के गांधीजी की अवधारणा की यही पृष्ठभूमि है। गांधीजी का कहना था कि संसार में केवल एक ही धर्म है और इस धर्म रूपी विशाल वृक्ष की अनेक शाखायें हैं। जिस प्रकार सभी शाखायें एक

ही वृक्ष से सत्व प्राप्त करती हैं और विकसित होती है उसी प्रकार धर्म एक ही श्रोत से सार प्राप्त करते हैं। धर्म एक है अतः ईश्वर भी एक ही। प्रत्येक धर्म की अनेक शाखायें हैं जबकि ईश्वर संपूर्ण और अखंड हैं। अतः उसकी शाखायें नहीं हो सकती। ईश्वर अदृश्य है और समस्त परिभाषाओं से परे है, इसलिए पृथ्वी पर जितने मनुष्य हैं उतने नाम ईश्वर के हो सकते हैं। वे सभी नाम वस्तुतः एक ही ईश्वर के हैं। हम इसे जिस रूप में चाहे जिस नाम से जाने ईश्वर तो एक और अद्वितीय है। इस प्रकार गांधीजी के सर्वधर्म समभाव के चिंतन और दर्शन का उदय हुआ। 5 मार्च 1937 अमेरिकी पादरी आर0आर0 कीथन से गांधीजी की बातचीत हुई। गांधीजी ने कहा कि सभी धर्म न केवल सच्चे हैं बल्कि समान भी हैं। श्री कीथन ने कहा कि इस तरह तो लोक प्रकृति पूजकों से तुलना करने लगेंगे।

4. गांधीजी ने कहा आपका कहना बिल्कुल ठीक है कि धर्मो की तुलना करना संभव नहीं लेकिन इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि सभी धर्म समान हैं। सब लोग जन्म से स्वतंत्र और समान होते हैं। यद्यपि उनमें शारीरिक और मानसिक अंतर पाया जाता है, परंतु उनमें तात्विक समानता अवश्य है। इसी प्रकार सभी धर्म तत्वतः समान हैं। अगर आप कुरान पढ़ें तो आपको उसे मुस्लमानों की नजर में पढ़ना चाहिए। बाइबिल पढ़ें तो निश्चय हीं ईसाई की दृष्टि से पढ़ें। बाल की खाल खींचने और फिर किसी धर्म का उपहास करने का क्या प्रयोजन हो सकता है। आप जेनेसिस या मैथ्यु के पहले अध्याय को ही लें। उसमें हमें एक लंबी वंशवली पढ़ने को मिलती है और अंत में बताया जाता है कि ईसा का जन्म एक कुमारी से हुआ। यही आकर हमारे सामने एक टेढ़ी दीवार खड़ी हो जाती है। बात कुछ समझ में नहीं आती। मगर मुझे तो इन सबको एक निगाह से पढ़ना समझना चाहिए और सभी धर्म में दोष भी समान रूप से विद्यमान हैं।

5. व्यक्ति और व्यक्ति की गरिमा, चिंतन के प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक विषय और प्रत्येक पक्ष में केंद्र–बिंदु रही। दार्शनिक, अध्यात्मिक, धार्मिक नैति और राजनीतिक चिंतन में चिंतन की विषय वस्तु मानव है ही, किंतु अन्य प्राकृतिक और प्रायोगिक विज्ञान भी व्यक्ति और व्यक्ति की गरिमा को ही समर्पित है। दर्शन के क्षेत्र में व्यक्ति एक तत्व है और विश्व की नियामक सत्ता का एक ही अंश है और अपने इसी मौलिक लक्षण के कारण यह अन्य पशु योनियों से भिनन है। जैविक उत्पति के सिद्धांत में पशु सृष्टि का मूलभूत नियत ही भाव की संरचना में प्रवर्तित हुआ है। गर्भ से जन्म लेने वालों की जैविक संरचना में सृष्टि का नियमत एक ही है वह पशु हो या मानव। इस मौलिक अभेद के होते हुए भी मानव पशु योनि में सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ और उत्कृष्ट उपलब्धि माना जाता है। मत– मतान्तरों के सूक्ष्म भेद स्वाभाविक होते हुए भी व्यक्ति के संबंध में इस दार्शनिक अवधारणा के प्रति सभी चिंतक एक मत हैं। दार्शनिक दृष्टि से व्यक्ति बुद्धि और चेतना का एक विलक्षण संगम है। निम्न कोटि की अन्य पशु योनियाँ बुद्धि और चंतना के संगम तथा इनके स्वचालित नियमन से प्रकृति द्वारा वंचित रखे गये हैं। दार्शनिक चिंतन की इस भूमिका से ही विज्ञान विकसित हुआ है। नित नेतन खोजें और आविष्कार व्यक्ति की चेतना और बुद्धि के संगम का ही परिणाम है। स्पष्ट है कि मानवेत्तर पशु योनियों में यह उपलब्धि असम्भव है। पशु का कार्य प्रवृति से संचालित होता है जो स्वाभाविक होता है। पशु प्रयत्न और अनुसंधान की कला से वंचित है। शोध और अनुसंधान पशु के स्वभाव के ही विपरीत हैं। यह पृथक् बात है कि उचित प्रशिक्षण केबाद पशु से वांछित व्यवहार करवा लिया जाए किंतु अपने मौलिक भाव में वह वहीं कार्य करेगा जो उसकी प्रवृति द्वारा निश्चित हैं। यही कारण है कि गाय भूख से तड़पने पर भी मांस का भक्षण नहीं करेगी और इसी प्रकार भूख से पीड़ित सिंह फलाहार नहीं करेगा, किंतु मानव बुद्धि और चेतना के बल पर प्रवृतियों को भी निर्धारित और निर्दिष्ट कर लेता है और खोज लेता है और खोज और अनुसंधान के बल पर विलक्षण कीर्तिमान बनाता जा रहा है। दार्शनिक विचारधारा में चिंतन का एक आयाम ऐसा भी है जहां, यहां तक मान लिया गया है कि दृश्य जगत की सत्ता मानव की दृश्य शक्ति के कारण ही है। संसार का अस्तित्व इसीलिए है और अभी तक है जब तक उसे देखने वाला कोई चेतना पुरूष विद्यमान हो। बौद्ध दर्शन में इस धारणा को आदर प्राप्त हुआ है। और बौद्धों का एक सम्प्रदाय इसी को सत्य मानता है कि संसार का अस्तित्व संसार का दृष्टा के कारण है। शुद्ध निरीश्वरवादी दर्शन होने के कारण केवल व्यक्ति ही संसार का दृष्टा सिद्ध होता है और व्यक्ति की सता को सृष्टि की सता से भी ऊँचे आसन पर आसीन करने का श्रेय इसी दर्शन को है। पाश्चात्य दर्शन में इस मत के प्रतिपादक बर्कले माने जाते हैं।

6. सारांश यह है कि दर्शनशास्त्र में व्यक्ति की सृष्टि की एक महत्वपूर्ण इकाई है, प्राण के प्रादुर्भाव का एक विलक्षण चमत्कार है और सृष्टि की सत्ता और मानव की सत्ता में एक अद्भुत सामंजस्य है तथा इन दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता। मानव के अध्ययन के लिए सृष्टि का अध्ययन और इसी सृष्टि के अध्ययन के

लिए मानव का अध्ययन समान रूप से अनिवार्य है। धर्म में व्यक्ति को एक दैवीय तत्व माना गया है। बौद्ध और जैन धर्म अपवाद स्वरूप निरीश्वरवादी हैं। अन्य सभी धर्मो में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है और मानव को ईश्वर का आंश और ईश्वर के पुत्र के रूप में स्वीकार किया गया है। धर्म का लक्ष्य व्यकित की दैवीय शक्तियों को जागृत करना है और उसे ईश्वर के निकट लाना है। दैवी सत्ता से आत्मा का संबंध हो जाना ही व्यक्ति की गरिमा का परम ध्येय है। अध्यात्मशास्त्र धर्म और दर्शन का ही संयोग है। अतः अध्ययात्म में भी व्यक्ति की गरिम का मानदण्ड आत्मा की शुद्धता और पवित्रता है। संसार में पाप और पुण्य की भावनाओं का आविष्कार अध्यात्मविधाओं से ही हुआ हे और मानव के जीवन में शुद्धत4ा और पवित्रता पर सदैव बल दिया जाता रहा। अध्यात्मशास्त्र के अनुसार मानव की गरिमा मानव के संदर्भो में है। पाप व्यक्ति की गरिमा का नाश है। मानव को दुष्कार्मो से परे रहने का आदर्श इसी शास्त्र ने प्रदान किया। अध्यात्मक द्वारा अनुमोदित पाप–पुण्य की अवधारणाएँ ही व्यवहार में उचित–अनुचित का रूप लेती है। नीतिशास्त्र का यही विषय है। यह शास्त्र इसी खोज में व्यस्त है कि कौन सी बात और कौन सी अवस्था मानवोचित है और मानव के लिए क्या करना उचित और क्या करना अनुचित है। राजनीतिक, सामाजिक और औद्योगिक क्रांतियाँ नैतिक मूल्यों पर ही घटित हुई हैं। वर्ग संघर्ष, पूंजीवाद, समाजवाद तथा बुर्जुआ और सर्वहारा जैसे उत्तेजक सिद्धांत नैतिक आधारों पर ही टिके और सफल हुए हैं। व्यक्ति की गरिमा को आधुनिकतम आयाम नीतिशास्त्र ने ही प्रदान किये। राजनीतिक चिंतन में व्यक्ति और राज्य के संतुलन का आकलन किया गया। इस संतुलन की दिशा में दो विरोधी विचारधाराओं का समानान्तर विकास हुआ है। एक धारणा यह रही कि राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन। इसकी विपरीत धारणा में व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन माना गया। प्रथम धारणा 19वीं शताब्दी तक लुप्त सी हो गयी और व्यक्ति के संबंध में विश्व की सर्वमान्य धारणा यह बनी है कि व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन। लीग ऑफ नेशन्स, संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके अन्तर्गत तथा उससे स्वतंत्र अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों और संघों ने राज्य की व्यक्ति के हित में साधन बनने का बाध्य किया है। मानवीय गरिमा का किसी भी राज्य में दमन न हो, इसकी सुरक्षा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों ने अपने हाथ में ले ली है और मानवीय गरिमा के प्रतिकूल होने वाले आचरण में संगठन हस्तक्षेप करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में व्यक्ति की गरिमा मात्र नागरिक अधिकारों तक ही सीमित नहीं है, व्यक्ति की गरिमा एक अन्तर्राष्ट्रीय छवि है और कोई भी राष्ट्र या राज्य इसे विकृत करने का प्रायः साहस नहीं करता।

7. प्रायोगिक विज्ञानों में चिकित्सा विज्ञान की भूमिका व्यक्ति की गरिमा के क्षेत्र में सराहनीय रही है। स्वस्थ जीवन व्यक्ति की गरिमा का प्रारम्भिक और मूलभूत लक्षण है। व्यक्ति को स्वस्थ और निरोग रखने की दिशा में मूल्यवान प्रयोग हुए हैं। व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा भी अब अन्तर्राष्ट्रीय विषय हो गया है और राष्ट्र उसमें सहयोग कर रहे हैं। इस आधार पर व्यक्ति की गरिमा का व्यापक विषय है। इसकी न तो कोई सीमित परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है। और नहीं इसे केवल अधिकारों और कर्तव्यों तक सीमित रखा जा सकता है। भारत के सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति की गरिमा का आकलन इन्हीं सब पक्षों में सांगोपांग किया गया है और भारतीय चिंतन के सामान्य लक्षण मानवीय गरिमा के संबंध में नितुांत मौलिक और दृष्टिकोण में पाश्चात्य चिंतन से कुछ भिन्न हैं। भारत के सांस्कृतिक प्रेक्ष्य में व्यक्ति शरीर और आत्मा का संयोग है। देह नश्वर है, किंतु आत्मा अजर, अमर और अविनाशी तत्व है। आत्मा के नाम से जिस तत्व का बखान हुआ है वह प्राण का ही एक उत्कृष्ट स्वरूप है। प्राण एक पवित्र और दैवी तत्व है और शरीर में प्राण के निवास से ही शरीर भी पवित्र और निर्मल रहता है। प्राण शरीर को त्याग देता है तो शरीर उसी क्षण दूषित और अपवित्र हो जाता है। यहां तक कि प्राण के निकलने के कुछ ही क्षणों पश्चात् शरीर में सड़न और गलन होना प्रारम्भ हो जाती है। अस्तु व्यक्ति की गरिमा का संदर्भ में प्राण सर्वाधिक महिमा है। प्राण की सुरक्षा सदैव ही राज्य का दायित्व रहा है। राज्य की उत्पत्ति और नरेशों की स्थापना प्राण की सुरक्षा और दैहिक स्वतंत्रता के कारण हुई है। रामायणकाल में प्राण के अधिकार का महत्व इस सीमा तक था कि प्राण की सुरक्षा निमित राज्य से सैन्य सहायता की याचना भी की जा सकती थी और राज्य नागरिक को सहायता से वंचित नहीं करता था। आर्य जाति के नागरिकों को जब असुरों की ओर से प्राण का अधिक भय होता था तब विश्वामित्र जैसे लोकनेता राजा से सैन्य सहायता की याचना के लिए बिना किसी बाधा के पहुंच जाते थे। विश्वामित्र अपने आश्रमवासियों के प्राण की सुरक्षा के लिए राजा दशरथ से सैन्य सहायता की याचना करने गये थे और वहां तक राजा दशरथ को वह प्रस्ताव तत्काल मान्य हो गया था। दशरथ के संकोच का कारण केवल यह था कि उन्होंने स्वयं राजपुत्रों की ही याचना कर ली थी। इस संकोच का राजगुरू वशिष्ठ ने विरोध किया और दशरथ राम और लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ उन्हें आश्रम

की सुरक्षा हेतु भेजने को विवश हो गये। आततइयों और आतंकवादियों का किसी भी क्षत्रिय द्वारा तत्काल वध किया जा सकता था। इस प्रकार प्राण का मूल्य निर्विवाद था और राजाज्ञा द्वारा प्राणदण्ड का अवसर प्रस्तुत ही नहीं होता था। असहाय और असमर्थ व्यक्ति राज्य से प्राणों की सुरक्षा के अधिकारी होते थे और स्वयं सुरक्षा में आश्वस्त होने की दशा में किसी भी क्षत्रिय से अपनी रक्षा करवा सकते थे। आधुनिक रजनीति के स्वतंत्रता और समता जैसे आकर्षक अधिकार, प्राचीन भारत में प्राण के अधिकार की ही अभिव्यक्तियां थे। स्वतंत्रता प्राण की सुरक्षा का ही एक सहयोगी भाव था। स्वतंत्रता का अर्थ प्राण का आदर करना था। मनुस्मृति में आत्मा के अनादर का सर्वथा निषेध है। श्री और समृद्धि से विहीन व्यक्ति भी आत्मा के कारण आदरणीय माना गया। प्राचीनकाल में स्वतंत्रता का अधिकार प्राण की महिमा से ही आच्छादित था। दया, सहानुभूति, शौर्य, साहस और वीरता जैसे सद्गुणों का स्वतंत्रता से ही संबंध था। छांदोग्यपनिषद में एक आख्यान है कि प्रजापति की तीन संतानें, देव, असुर और मानव प्रजापति के पास उपदेश लेने पहुंचे और प्रजापति ने तीनों को एक अक्षर का उपदेश समान रूप से दे दिया। वह एक अक्षर 'द' था। देव स्वभाव से ही विलासी थे अतः उन्होंने 'द' का अर्थ 'दमन' लगाया और इस उपदेश से संयम और इन्द्रियों पर अंकुश रखने के लिए दैवी भावों की प्रतिष्ठा हुई। असुर स्वभाव से आततायी थे। अतः उन्होंने 'द' का अर्थ 'दया' लगाया। प्राण को किसी भी प्रकार क्षति पहुंचाना या किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुंचाना आसुरी वृत्ति माना गया। अहिंसा के मूल्य का यह प्राचीन धरातल है और धर्म तथा दर्शन की यह प्राथमिक मान्यता है। जैन और बौद्ध धर्म भी जो नितांत निरीश्वरवादी दर्शन है, अहिंसा के प्रति पूर्णतः समर्षि हैं। इसी प्राचीन मूल्य का आधुनिक परिवेश महात्मा गांधी के अहिंसा सिद्धांत में प्रस्तुत हुआ। मनुष्य भौतिक आवश्यकताओं से ग्रस्त थे अतः उन्होंने 'द' का अर्थ 'दा' लगाया और उदाहरणता, अपरिग्रह जैसे मूल्य विकसित हुए और पूंजी का संकेन्द्रण सम्भव न हो सका। इस आख्यान से स्वतंत्रता के तीन प्रमुख लक्षण सिद्ध हुए—दैवी स्वतंत्रता का प्रमुख लक्षण संयम और इन्द्रिय निग्रह माना गया, अपराधों, भ्रष्टाचारों और दुष्क्रमों को स्वतंत्रता का अर्थ शक्तिशाली होते हुए भी परव्यक्तियों पर दयावान रहना सिद्ध हुआ। न केवल मनुष्य, वरन् सभी प्राणियों पर दयाभाव रखना ही स्वतंत्रता का एक आवश्यक पक्ष बन गया। स्वतंत्रता का मानवीय अर्थ 'दान' में किया गया और त्याग के साथ—साथ भाग का आदर्श स्थापित हुआ। स्वतंत्रता के मूल अधिमकार का आधुनिक परिवेश स्वतंत्रता के इस प्राचीन आदर्श का शतांश भी नहीं है।

8. समता के अधिकार की वैज्ञानिकता वर्गीकरण की नीति का ही अनुसरण है। समता का अर्थ व्यक्तियों की व्यक्तियों के मध्य समता और व्यक्ति जिस वर्ग में रहता है, उस वर्ग के सभी सदस्यो में उसकी समता। वर्गीकरण की इस नीति का बुद्धिसंगत और उद्देश्यपूर्ण होना आवश्यक है। अर्थात् वर्गीकरण का आधार और लक्ष्य दोनों ही समाज के हितों के अनुरूप होने चाहिए। समाज के हितों का चार पंकार से वर्गीकरण व्यक्ति की आवश्यकताओं और व्यक्ति की क्षमताओं के आधार पर किया गया। अतः वर्गीकरण का यह आधार नितांत बुद्धिसगत है। यह वर्गीकरण व्यक्ति केंद्रित होते हुए भी इसकी परिधि समाज है। समाजहित व्यक्ति का हित का ही एक विशाल रूप है। व्यक्ति लघु समाज और समाज वृहत् व्यक्ति। व्यक्ति हित और समाज हित में न कोई संघर्ष है और न कोई द्वन्द्व। स्पष्ट है कि समाज के आधुनिक संस्करण में इस वैज्ञानिकता का किसी भी प्रकार समावेश नहीं है। प्राचीनकाल में समता का निर्विवाद व्यवस्था थी, आज की समता एक विवादग्रस्त अधिकार है। उस काल में समता का यह वैज्ञानिक आधार व्यक्ति के अधिकार से नहीं, उसकी आत्मा से संबंधित था और उसका कर्म उसी की आत्मा की प्रवृत्ति से निर्धारित होता था। अतः उसका कर्म उसकी आत्मा की उन्नति का कारण होता था। आत्मोन्नति और समाजसेव में कोई भेद न था। अपने धर्म के कर्म को कुशलता से सम्पादित करना, अपनी आत्मा की संतुष्टि के लिए आवश्यक होता था और समाज सेवा में आत्मा की तुष्टि होती थी। आत्मतुष्टि से ही धर्म का निर्वाह इस सुगमता से होता था कि समाज और व्यक्ति में कभी संघर्ष की स्थिति आती ही नहीं थी। स्मृतिकारों ने वर्णधर्म और आत्मधर्म को एकाकार मानकर ही आत्मतुष्टि की धर्म के एक मूलभूत लक्षण के रूप में स्वीकार किया। महात्मा मनु ने धर्म के लक्षणों की गणना कर आत्मतुष्टि के पांचवें लक्षण से धर्म के पांच लक्षण निर्धारित किये। आगे इसमें संशोधन कर धर्म के चार ही लक्षण बताने पर भी आत्मतुष्टि के लक्षण को बनाये रखा। इसी से आत्मतुष्ट की महत्ता प्रमाणित है।

9. आत्मा की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर समाज के कर्म का विभाजन या वर्गीकरण आदर्श राज्यों की व्यवस्था के रूप में यूनान के प्लेटो और अरस्तू जैसे आदि चिंताकें ने भी स्वीकार किया। भारतीय चिंतन में आत्मा की चार प्रवृत्तियों के आधार पर समाज में चार वर्णो की स्थापना की गयी और व्यक्ति की मौलिक समता के रूप में भी आत्मा को ही आधार मानकर सभी व्यक्तियों में एक ही आत्मा के दर्शन किये गये। गीता में भगवान श्रीकृष्ण

का यह वचन है कि विद्या और विनयुक्त ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में, कुत्ते में और चाण्डाल में भी पण्डितजन समभाव से देखने वाले होते हैं। मनुस्मृति में इसी के समानान्तर यह वचन है कि सत्य और असत्य के विवेक में स्थित व्यक्ति सभी में आत्मभाव को लक्ष्य करता है और सभी आत्माओं को समान देखने से अधर्म का भागी नहीं होता। महाभारत में आत्मोपमस्तु भूतेषु के वचन में व्यक्ति के लिए सभी भूतों को समान मानने का समादेश है और 'सर्वभूतात्म भूतस्य' के वचन में यह सिद्धांत है कि जो संपूर्ण भूतों का आत्म है अर्थात् जो सबकी आत्मा को अपनी आत्मा मानता है, उसी ज्ञानी की गति का आकलन करने में देवतागण भी विमोहित हो जाते हैं। गीता में इसी सिद्धांत को अन्यत्र आत्मौपम्य कहा गया है जिसका अर्थ आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में यह किया है कि आत्मा अर्थात स्वयं आप और जिसके द्वारा उसकी उपमा दी जाए, वह उपमा अर्थात् उस उपमा में अन्तभूर्त समता को औपम्य कहा जाता है। इस प्रकार स्वयं की उपमा से सभी अन्य प्राणियों को जो समान देखता है, वह आत्मौपम्य है।

10.यह भ्रान्ति की प्राचीन काल में स्त्रियों और शूद्रो के प्रति समता का व्यवहार नहीं होता था, दो दिशाओं में है। आरोप का एक पक्ष यह है कि सि़यों और शूद्रों को वेद का अध्ययन वर्जित था। वस्तुस्थिति यह है कि इन दो वर्णो को एक दुरूह काग्र से मुक्त रखा गया था। वेद और शास्त्रों की भाषा की क्लिष्टता, उनके शुद्ध उच्चारण में कठिनाई और दिन–रात के परिश्रम से उन्हें कंठाग्र करने का अध्यवसाय, यह सब ब्राह्मणों के भाग में ही आया था। शूद्रों से इस कठिन काम की अपेक्षा कभी नहीं की गयी। वे क्षुद्र कार्य ही करने के योग्य होते थे और जो क्षुद्र काग्र करने के योग्य होते थे वह ही शूद्र वर्ण में सम्मिलित हो जाते थे। यह प्रथा पारिवारिक और पारम्परिक बन गई। अतः आवश्यकता एवं अभ्यासवश प्रायः कोई व्यक्ति वर्णन परिवर्तन को स्वीकार नहीं करता था।

11.किन्तु वर्ण परिवर्तन योग्यतानुसार किया जा सकता था। वर्ण–व्यवस्था की शुद्धता और उसके उपयोग के बल पर सामाजिक योग्यताओं के स्तर और मानदण्डों का स्वतः सरल वर्गीकरण हो गया था। वर्ण व्यवस्था में समाज के सुखी रहने का प्रमाण यह है कि वर्ग–संघर्ष का कभी कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं हुआ। स्त्रियों को वेद और शास्त्रों के अध्ययन की वर्जना उनके शारीरिक लक्षणों के कारण हुई। किसी भी समय उनके अशुद्ध हो जाने की सम्भावना हो सकती थी। प्रजनन काल में उनकी अन्य दैनिक मार्यादाऐं शिथिल हो जाती थीं। अतः वे वेद विद्या के संग्रह के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थीं, किंतु यहां भी अपवाद से जो स्त्रियां स्त्री सुलभ जीवन व्यतीत न कर पुरूषों के समकक्ष जीवन व्यतीत करना अन्य वर्णों की सृष्टि हुई, यह महाभारत में प्रमाणित होता है।

संदर्भ सूचीः–

1. दण्डवते, एम. आर., गांधीज इम्पेक्ट ऑफ सोशलिस्ट थिंकिंग, पृ.–206
2. धवन, जी.एन., द पॉलिटिकल फिलास्फी ऑफ महात्मा गांधी, पृ.–195
3. होमर, जे0ए0, गांधी, भारतीय विद्या भवन, 1964
4. प्यारेलाल, पूर्णाहूति, खंड–1–4, नवजीवन, प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण जनवरी, 1965
5. राव, वी0के0आर0वी0, पश्चिमी समाजवाद का गांधीज्म विकल्प पृ0 114
6. वहीं, पृ0–199

डॉ. प्रज्ञा कुमारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर , इतिहास विभाग, गया कॉलेज, गया मगध विश्वविद्यालय, बोधगया।